International Journal of Enhanced Research in Educational Development (IJERED)
ISSN: 2320-8708, Vol. 9 Issue 5, Sept-Oct, 2021, Impact Factor: 7.326

# पं. दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानव दर्शन के शिक्षा संबंधी मूल तत्व

प्रतिभा उपाध्याय

शोधार्थी, एम.एस.सी., एम.एड., नेट (शिक्षा शास्त्र), जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर (म.प्र.)

---

**प्रस्तावना**

शिक्षा मानव विकास की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग है शिक्षा के माध्यम से मानव की अर्न्तनिहित जन्मजात शक्तियों का विकास, व्यवहार परिमार्जन एवं जीवनोपयोगी कलाओं, कौशलों का संवर्धन किया जाता है। इसलिये शिक्षा का प्रथम उत्तरदायित्व है कि वह मानव का निर्माण करें यहां निर्माण से आशय गढ़ने से है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा की प्रगति के लिये विभिन्न शिक्षा नीति आवश्यकतानुसार बनाई गई तथा आवश्यकतानुसार समय –समय पर उनमें विभिन्न शिक्षाविदों द्वारा संशोधन एवं संर्वधन किया गया। हमारी शिक्षा नीति पर गांधीजी की बुनियादी सर्वोदय शिक्षा, टैगोर की प्राकृतिक शिक्षा, अरविंदों की अनुभवातीत सर्वांग दर्शन, विवेकानन्द की नव्य वेदान्त की शिक्षा की गहरी छाप है। गांधी जी के अनुसार ''शिक्षा से मेरा आशय बालक तथा मनुष्य में निहित शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक श्रेष्ठ शक्तियों का सर्वागींण विकास है।''

शिक्षा प्रदान करना एवं ज्ञान में वृद्धि करना, बिना समाज की प्रकृति, इसकी रचना इसके सदस्यों के जीवन के आदर्श एवं मूल्यों को समझे बिना संभव नहीं है। जिस प्रकार से शिक्षाशास्त्र का संपूर्ण पाठ्यक्रम शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार के बिना अधूरा है उसी प्रकार शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार पंडित दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद के सामाजिक घन के बिना पूर्ण नहीं हो सकता है।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने सभी के लिये शिक्षा को उपयोगी बताया उनके अनुसार शिक्षा धर्म, जाति, लिंग, वर्ग के आधार पर नहीं दी जानी चाहिए शिक्षा मानवता के अनुकूल तथा राष्ट्र के विकास के अनुकूल होना चाहिए। अतः शिक्षा का पाठ्यक्रम राष्ट्र की मूलभूत आवश्यकता को भी ध्यान में रखकर बनाया जाना चाहिये। वे पश्चिम के अन्धानुकरण के सख्त विरोधी थे। वे भारत राष्ट्र के लिये ऐसी समग्र रूप रेखा व्यक्त करना चाहते थे जिसमें भारतीय संस्कृति की महक हो प्राचीन धरोहर को नये कलेवर में ढालने की कला पंडित दीनदयाल उपाध्याय बखूबी जानते थे।

वे भारत की सुदृढ़ नींव तैयार करना चाहते थे जो मूलतः भारतीय हो क्योंकि वे जानते थे कि दसवीं सदी के पूर्व यह देश धातुकी, औषधि–विज्ञान, ज्यामिति, खगोल शास्त्र आदि के क्षेत्र में अग्रणीय था। पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने अपने एकात्म मानव दर्शन में मानव के पुरूषार्थो के साथ–साथ उसके सुख की भी अवधारणा प्रस्तुत की क्योंकि मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य कहीं न कहीं विभिन्न क्रियाकलापों द्वारा सुख की अनुभूति करना ही है। अतः समाज द्वारा व्यक्ति को शिक्षित करते समय उसके विभिन्न सुख जैसे बुद्धि का सुखः, मन का सुख, आत्मा का सुख तथा शरीर का सुख का ध्यान रखना आवश्यक है। तभी वह राष्ट्र के विकास सहयोग कर सकेगा।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय सुख प्राप्ति के साधन के रूप में चतुष्ट्य पुरूषार्थ का वर्णन करते है। वे कहते है कि सुख प्राप्ति के लिये जिन साधनों को अपनाने के लिये हमें अभ्यास करना चाहिये, उन्हें हमारे यहॉ पुरूषार्थ कहा गया है। वह पुरूषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार प्रकार का हो सकता है। ये चारों पुरूषार्थ एक–दूसरे के पूरक होते है। अर्थ पुरूषार्थ शरीर के लिये धर्म पुरूषार्थ समाज के लिये, काम पुरूषार्थ कामना के लिये और मोक्ष पुरूषार्थ आत्मा के लिये अर्थात इन चारों पुरूषार्थो के समावेश से ही मनुष्य उन्नति कर सकता है। मनुष्य जब चारों के लिये प्रत्यनशील होगा, चारो की प्राप्ति का प्रयास करेगा तो उसे सुख की पूर्णता का अनुभव होगा। शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिये जो चतुष्ट्य पुरूषार्थ की सिद्धी कराने में सहयोग प्रदान करे।

पंडित दीनदयालय उपाध्याय व्यक्ति तथा समाज को ऐसी शिक्षा देने के पक्षकर थे कि सम्पूर्ण समाज एवं व्यक्ति एकता के सूत्र में बंध जाये और राष्ट्रहित के लिये अपना सर्वस्व समर्पित कर दे। वे ऐसी शिक्षा के हिमायती थे जिससे समाज का अनत्योदय हो सके अर्थात समाज में अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति को भी विकास का लाभ मिले।

**शिक्षा का उद्देष्य :–**

उनके लिये शिक्षा का उद्देश्य कर्म करना है। अर्थात् शिक्षा इस प्रकार होनी चाहिये जो मानव को कर्म करने में सहयोग करे उन्होंने समाज को उन्नत बनाकर राष्ट्र को उन्नत बनना तथा सभी राष्ट्रो को उन्नत बनाकर सम्पूर्ण सृष्टि को उन्नत बनाने के लिये निम्नलिखित सूत्र दिये।

भरणत् रक्षणात् च अर्थात् किसी समाज, राष्ट्र का नेता 'भरत' गुण वाला होना चाहिए अर्थात वह जो भरण व रक्षण करता है भरत कहा जाता है। इसी कारण रोटी और आवास तो सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी कर लेता है। प्रकृति सभी के लिये यह व्यवस्था करती है हमारे लिये भी की है परन्तु मानव में लालच, स्वार्थ और जमाखोरी का गुण होता है जिससे वह अनावश्यक ही वस्तुओं का संग्रह करता है संग्रह का अवगुण इतना अधिक है कि वह अपने परिवार के साथ–साथ और सात पीढ़ीयों के लिये भी करना चाहता है। इस कारण समाज और राष्ट्र के कुछ लोग मूलभूत सुविधा जैसे दो वक्त की रोटी, आवास और वस्त्रो के लिये भी तरस जाते है।

दीनदयाल का भरणात् रक्षणात् का सिद्वान्त प्रत्येक शासक के लिये आवश्यक है भरण के लिये जो आवश्यक सामग्री है उसका लालची लोगो से रक्षण करना तथा सुपात्र को उपलब्ध करना भी शासक का उत्तरदायित्व है। तभी भारत नाम सार्थक होगा।

**शिक्षा समाज का दायित्व :–**

बच्चे को शिक्षा देना समाज के अपने हित में है। जन्म से मानव पशुवत पैदा होता है। शिक्षा और संस्कार से वह समाज का अभिन्न घटक बनता है जो काम समाज के अपने हित में हो, उसके लिये शुल्क लिया जाये, यह तो उल्टी बात है। भारत में 1947 से पूर्व सभी देशी राज्यों में कहीं भी शिक्षा के लिये शुल्क नहीं लिया जाता था। उच्चतम् श्रेणी तक शिक्षा निःशुल्क थी। गुरूकुल में तो भोज व रहने की व्यवस्था भी आश्रम में होती थी केवल भिक्षा मॉगने के लिये ब्रह्मचारी समाज में जाते थे। कोई भी ब्रह्मचारी को खाली नहीं लौटाता था अर्थात समाज द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की जाती है।

**चिकित्सा निःशुल्कः–**

इसी भॉति चिकित्सा के लिये भी पैसा देना पड़े अचंभे की बात थी चिकित्सा भी निःशुल्क होनी चाहिये। समाज की ओर से जीवन–यापन और विकास के लिये न्यूनतम की गारंटी होना चाहिये।

**न्यूनतम का जन्मसिद्ध अधिकार :–**

ऐसी शैक्षणिक व्यवस्था और समाज व्यवस्था जो लोगो के पुरूषार्थ में बाधक है वह आत्मघाती है। ऐसी व्यवस्था में समाज व्यक्तियों के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं कर पायेगा यदि व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ण होती रही तो भी पुरूषार्थ न करने के कारण उसका विकास अधूरा रह जायेगा।

अब प्रश्न है कि न्यूनतम का अर्थ क्या है? न्यूनतम का अर्थ वह व्यवस्था है जिसमें राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को जीवनोपयोगी संसाधन पर्याप्त रूप में मिले। जिसमें रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, चिकित्सा, न्याय, सामाजिक सुरक्षा आते है।

यह न्यूनतम जो सभी को देता है वह आयेगा कहॉ से? उत्तर स्पष्ट है यह न्यूनतम व्यक्ति को उसके पुरूषार्थ से मिले तो उसके स्वाभिमान की रक्षा होती है जो उसके स्वस्थ व्यक्तित्व के लिये आवश्यक है। पुरूषार्थ से विहीन व्यक्ति समाज पर भार है। अतः सभी को अपनी क्षमता योग्यता के अनुकूल कार्य करना चाहिये। परन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि वे व्यक्ति जो कर्म नहीं करते तो उन्हें न्यूनतम के जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित रखा जाये ।हम कर्म के द्वारा अपने जीवन को आत्म निर्भर करते है चित्रकार को चित्र बनाने का कार्य से रोक दीजिये तो वह मर जायेगा गीता में लिखा है प्रत्येक को कर्म करना चाहिये।

न्यूनतम का जन्मसिद्ध अधिकार के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक को काम दिया जाये। प्रत्येक को काम राष्ट्रीय नीति तथा अर्थव्यवस्था का आधारभूत लक्ष्य होना चाहिए स्वस्थ व्यक्ति के लिये अपनी गृहस्थ आश्रम की आयु 25–60 वर्ष की आयु में जीवकोपार्जन की सुलभता होनी चाहिये।

परन्तु असंगतता, स्वार्थ, लालच और आवश्यकता के कारण कहीं तो एक और दूध मुँहे बच्चे, बच्चे 3–5 साल के बच्चे भीख मांगने वाले तो कहीं 6–10 साल के बच्चे सिग्नल पर चीजे बेचते नजर आते है और 11–15 साल के बच्चे बाल मजदूरी करते नजर आते है। बालिकाओं की दशा तो और भी बद्तर है उन्हें तो वैश्यावृत्ति के घिनौने कृत्य के लिये खरीदा बेचा जाता है। फिर इसके अलावा कहीं–कहीं तो बालकों, घरेलू नौकर बनाकर अपना काम चलाते है कहने का तात्पर्य यह है कि जो काम निर्धारित मूल्य देकर वयस्क व्यक्ति से कराया जाना चाहिये वह काम किसी किशोर या बालक बालिका से करवाकर एक ओर वयस्क के कर्म के अधिकार को छीना जाता है। तो वहीं दूसरी ओर छोटे बालको और किशोरो को औने–पौने दाम देकर शोषण करते है जिससे उनका शारीरिक और मानसिक विकास अवरूद्ध हो जाता है। कभी तो यह इतना घातक होता है कि किशोर या बाल अपराध का भी कारण बनता है।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार शिक्षा एक संस्कार प्रक्रिया है जिसका आरंभ माता के गर्भ से ही प्रारंभ हो जाता है। मानव प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अपने आस–पास के सामाजिक वातावरण से संस्कार के रूप में शिक्षा ग्रहण करता है इस प्रक्रिया में प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु, प्रकृति, सभी शिक्षक के रूप में कार्य करते है। संस्कार द्विमार्गी प्रक्रिया है माता–पिता, परिजन, पुरजन, गुरूजन, अग्रपाठी, सहपाठी, समाज के विषिश्ट गणमान्य व्यक्ति नेता ये सभी नवीन पीढ़ी पर अपना प्रभाव डालते है।

भारत में शिक्षा को पवित्रम प्रक्रिया माना जाता है। गीता में श्री कृष्ण ने ज्ञान के विषय में कहा है कि :–

**नास्ति विद्यासमं चक्षु :** अर्थात् विद्या के समान कोई दूसरा नेत्र नहीं है। शिक्षा वह दीपक है जो अंधकार में व्यक्ति का मार्गदर्शन करती है और उजाले की ओर ले जाती है। ज्ञान, चरित्र एवं संस्कृति की त्रिवेणी के संगम में ही शिक्षा जीवन का तीर्थराज बनती है। ज्ञान के अर्जन को शिक्षा कहा जाता है ज्ञान ही जीवन के विकास का माध्यम है और ज्ञान प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य। शिक्षा और संस्कार के माध्यम से ही मानव का जीवन कमल के सदृश्य खिलता है। भर्तृहरी नीतिशतक में उल्लेखित उक्ति विद्याविहीन पशु से दीनदयाल उपाध्याय अत्यंत प्रभावित थे वे मानते थे कि शिक्षा एक निवेश है, एक शिक्षित व्यक्ति वास्तव में समाज की सेवा करेगा।

किसी भी राष्ट्र के विकास का आकलन उस राष्ट्र की शिक्षा व्यवस्था से लगाया जा सकता है। शिक्षा व्यवस्था जितनी सुदृढ़ होगी समाज एवं राष्ट्र भी उतना ही सुदृढ़ एवं विकसित होगा। जिस प्रकार मनुष्य की भौतिक आवश्यकतायें होती है उसी प्रकार मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकता भी होती है। जिसकी पूर्ति शिक्षा द्वारा संस्कार के माध्यम से एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को दी जाती है। किताबी ज्ञान को वास्तविक शिक्षा नहीं कहा जा सकता। पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी का कहना था कि किसी राष्ट्र में अमूल्य निधि उसकी युवाशक्ति होती है।

यदि युवा शक्ति के अनंत स्रोत को राष्ट्र की उन्नति में नहीं उपयोग किया जायेगा तो यह शक्ति राष्ट्र के लिये विध्वंसकारी होगी। शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है एवं प्रत्येक सभ्यता एवं संस्कृति की वाहक है। हमारे पूर्वजो ने अनेक कष्ट सहकर भी भारतीय संस्कृति की मौलिकता को बनाये रखा है क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि अपनी भावी पीढ़ी को उत्तम शिक्षा, ज्ञान, गुण, कर्म और स्वभाव रूपी अलंकारो से अलंकृत करना माता–पिता तथा गुरूओं का प्रमुख उत्तरदायित्व है। यही उनका कर्तव्य भी है।

''सा विधा या विमुक्तये'' की उक्ति के अनुसार उत्तम शिक्षा वही है जो मुक्ति प्रदान करे।

विद्याविहीन व्यक्ति को सुगंध रहित पुष्प की भांति समझना चाहिये चाहे वह कितना ही बलशाली, कुलीन ही क्यों न हो।

दीनदयाल उपाध्याय ने शिक्षा को समाज की प्रमुख आवश्यकता के रूप में व्यक्त किया। किसी भी राष्ट्र में होने वाले अनुसंधान कार्य उस राष्ट्र की विकासशीलता, प्रगति में उन्नति लाते है। लगभग सभी अविष्कार उसी राष्ट्र ही नहीं अपितु पृथ्वी के सभी राष्ट्रो के लिये उपयोगी सिद्ध होते है राष्ट्र विशेष की समष्टि और प्राकृतिक संतुलन के अनुसार मानव द्वारा निर्मित यंत्र उनके जीवन को सुलभ और सरल बनाते है परन्तु अविवेकपूर्ण उपयोग से यंत्र मानव विकास में सकारात्मक नहीं बल्कि नकारात्मक प्रभाव डालता है और कहीं न कहीं राष्ट्र के विकास में बाधक होता है मानव के स्थान पर यंत्र का अविवेकपूर्ण उपयोग मानव को कर्मविहीन कर न्यूनतम से वंचित हो जाता है।

यह पंडित जी कहते है हमें यंत्र की मर्यादाओं का विचार करके ही उसकी उपयुक्तता का निर्धारण करना होगा। इस दृष्टि से पश्चिम के उन यंत्रो का जो वह जनसंख्या की कमी के आधार पर बने हैं बिना विचारे आयात करना भारी भूल होगी। यंत्र देश काल परिस्थिति निरपेक्ष नहीं सापेक्ष है।